International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 7.150, Volume 06, No. 04(II), October - December, 2024, pp. 101-106

अनुसन्धान, आलोचना और आलोचक दृष्टि

डॉ. प्रकाश दान चारण*

प्रस्तावना

अनुसन्धान, आलोचना और आलोचक दृष्टि को समझने के लिए हमें साहित्य और इतिहास की प्रकृति को भी जानना चाहिए। इतिहास साहित्य को आधार भूमि प्रदान करता है और साहित्य इतिहास को एक नई व्याख्या। चाहे इतिहास हो या साहित्य दोनों का संबंध मनुष्य के सच्चे और वास्तविक स्वरूप की पहचान से हैं। इतिहास अपनी तथ्यपरकता के साथ उस रूप का अनुसन्धान करता है और साहित्य अपनी कल्पना की सर्जना को लिए उसके वास्तविक रूप की संभावनाओं को सामने लाता है। जो अंतर है वो यह है कि इतिहासकार वस्तु को वस्तु रूप में ही देखता है जबकि साहित्यकार उसको सद्रूप ,चिद्रूप और आनंद स्वरूप में देखने का प्रयास करता है। अगर हम साहित्य और इतिहास के दर्शन के स्तर पर बात करें तो दोनों में ही शाश्वतत्ता रहती है लेकिन इतिहास में ज्ञान की शाश्वतत्ता अपने वस्तुनिष्ठ रूप से बाहर नहीं निकल पाती है जबकि साहित्य में ज्ञान की शाश्वतत्ता अनुभूति की सुन्दरता को भी प्राप्त कर लेती है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर कल्पित पात्रों को भी शाश्वतत्ता प्रदान करता है। साहित्य साच और झूठ की परिधि से बाहर संभावित विश्वसनीयता की सर्जना का नाम है। अज्ञेय ने अपने निबंध 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' में कला को सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न मानते हुए कहा कि "कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है,व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। अर्थात् वह अंततः एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है।"[1]

अनुसन्धान, आलोचना और आलोचक दृष्टि एक ऐसा विषय है जिस पर चिंतन करना एक तरह का अनुसन्धान है और चिंतन की प्रक्रिया से गुजरना एक तरह की आलोचना। किसी कृति का बहिरंग परीक्षण अथवा तथ्यान्वेषण ही अनुसन्धान की सीमा नहीं है, आलोचनात्मक विश्लेषण भी अनुसन्धान है और वास्तव में यही उसका प्राण तत्त्व भी। डॉ. नगेन्द्र ने इस विषय पर अपनी दृष्टि स्पष्ट करते हुए लिखा है-"उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसन्धान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है।"[2]

इसका अर्थ यह नहीं है कि तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। अनुसन्धान, अनुसन्धान है और आलोचना, आलोचना। सत्य तो यह है कि उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँच कर भी अनुसन्धान, अनुसन्धान ही रहता है और श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँच कर भी आलोचना, आलोचना ही रहती है। अनुसन्धान और आलोचना से होते हुए हम आलोचक दृष्टि तक पहुँच सकते हैं। आलोचक दृष्टि कहने का अभिप्राय यही है कि आलोचक में अनुसन्धान और आलोचना दोनों की समझ जितनी जरूरी है उतनी ही समझदारी दोनों की अलग अलग प्रकृति में प्रयोग करने की भी है। जब तक आलोचक के पास ऐसी दृष्टि नहीं होगी तब तक न अनुसन्धान अपनी उपादेयता सिद्ध कर पायेगा और न आलोचना अनुसन्धान का

* सहायक आचार्य, हिंदी, राजकीय महाविद्यालय रोहट, पाली, राजस्थान।

व्यावहारिक प्रयोग कर पायेगी। आलोचक दृष्टि की इस सूक्ष्म पहचान के लिए हमें अनुसन्धान और आलोचना के संबंध में डॉ. नगेन्द्र के इस कथन को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए "तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकांत वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें, वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसन्धान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसन्धान का मार्ग एकांत तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित नहीं है। आत्मरस का यत्किंचित संस्पर्श उसके लिए एकांत वर्जित नहीं है।"[3]

अनुसन्धान और आलोचना का तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करें तो अनुसन्धान की मूल धातु 'धा' है जिसमें सम् उपसर्ग लगने से संधान शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना,निशाना लगाना तथा आलोचना की मूल धातु है 'लुच' जिसका अर्थ होता है देखना। हम कह सकते हैं कि अनुसन्धान में एक लक्ष्य होता है और अनुसंधानकर्ता उस लक्ष्य के पीछे चलता है जबकि आलोचना में वह सूक्ष्म निरख परख दृष्टि से आगे बढ़ता है। आलोचक किसी लक्ष्य को केंद्र में रख कर नहीं चलता है वह तो रचना को उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य की प्रक्रिया के साथ देखता हुआ चलता है। अनुसन्धानकर्ता का कार्य एक बिंदु पर आकर पूरा हो जाता है लेकिन आलोचक का कार्य निरंतर प्रक्रिया की तरह चलता रहता है। अनुसन्धान में अन्वेषण होता है। अन्वेषण अपनी प्रकृति में वस्तुनिष्ठ अधिक होता है। यही कारण है कि अनुसन्धान तथ्यों से संचालित होने लगता है जबकि आलोचना में निरीक्षण–परीक्षण की प्रवृत्ति होने के कारण उसकी विषयनिष्ठता बनी रहती है। यद्यपि डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में कहें तो "अनुसन्धान में अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण–परीक्षण पर। फिर भी ये दोनों तत्त्व भी एक दूदूसरे से निरपेक्ष नहीं है। अन्वेषण बिना निरीक्षण–परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता और इसी तरह निरीक्षण– परीक्षण के भी पूर्व क्रिया रूप में अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है। फिर भी अनुसन्धान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णतः सह व्यापक नहीं है। अनुसन्धान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को शुद्ध अनुसन्धान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है।"[4]

वैसे तो अनुसन्धान के तत्त्व निर्धारित करना बड़ा कठिन कार्य है। अनुसन्धान भी अपने आप में एक प्रक्रिया ही है। फिर भी सुविधा की दृष्टि से मुख्यतः तीन तत्त्व हैं जो अनुसन्धान में शामिल किये जाते हैं। इनमें एक अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण, दूसरा उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धांतों का नवीन आख्यान, तीसरा ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार अर्थात् मौलिकता। इसी प्रकार आलोचना के भी मोटे मोटे तीन तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं। एक प्रभाव ग्रहण, दूसरा व्याख्या–विश्लेष्ण ,तीसरा मूल्यांकन। अनुसन्धान और आलोचना दोनों में ही एक सावधानी रखनी पड़ती है वह यह है कि जिस प्रकार अनुसंधानकर्ता तथ्यों को शासित न करे, तथ्यों से अनुशासित हो,उसी प्रकार आलोचक कृति का मूल्यांकन करें न कि निर्णय तैयार करें।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब अनुसन्धान पर बात करते हैं तो उसमें आलोचना की दृष्टि भी समाहित रहती है। वे जिस निरंतर वर्धमान ज्ञान पिपासा को शोध का मूल मन्त्र कहते हैं, ("निरंतर वर्धमान ज्ञान–पिपासा शोध का मूल मन्त्र है") वह आलोचना का भी मूल स्वभाव है। आलोचक किसी रचना की परख में उसकी जातीय परम्परा को परखते हुए उसकी नवीनता को उद्घाटित करता है। आलोचक कृति का निर्णायक नहीं होता, वह अपनी अनुभूति के तादात्म्य द्वारा कृति में छिपे किसी नए अर्थ का उद्घाटन करता है। यह नया अर्थ ही किसी नए ज्ञान का विस्तार है। आलोचक का काम कृति को किसी विशेष अर्थ में समेटना नहीं है उसका काम पाठक के लिए किसी तीसरे नए अर्थ हेतु प्रेरणा का विस्तार करना है। जो आलोचक निर्णायक की भूमिका में उतर जाते हैं वे आलोचना की रचनात्मकता को कमजोर करने का काम करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अनुसन्धान और आलोचना के साथ साहित्य की इतिहास दृष्टि को भी केंद्र में लाते हैं और इन सबके केंद्र में रहता है मनुष्य। यानि चाहे अनुसंधाता हो, चाहे आलोचक हो या साहित्य का इतिहासकार सभी में वर्धमान ज्ञान पिपासा का होना जरूरी है लेकिन इस वर्धमान ज्ञान पिपासा का मूल वही प्राणधारा हो जो अनुकूल

प्रतिकूल दशाओं में अपने प्रवाह को कम नहीं होने दे। यहाँ हम एक दृष्टि पाते हैं जो अनुसन्धान से आगे आलोचक की दृष्टि कही जा सकती है। जिसके मूल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन है कि "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्‌भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल–प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रंथकार ,कवि और काव्य ,सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं है मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल– प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।"[5]

अज्ञेय ने भारत भवन न्यास में आयोजित गोष्ठी जिसका विषय 'समालोचना और समाज' था। जिसकी अध्यक्षता डॉ. नगेन्द्र कर रहे थे, उस अवसर पर अपने उद्‌बोधन में कहा था "मैं तो अनुभव करता हूँ कि आलोचना भी है, आलोचक भी है लेकिन आलोक अगर कहीं है तो उसको ओट कर देने वाले बहुत ज्यादा लोग हैं। और यही हमारी समस्या है और इस समस्या के प्रति इस समय अगर मैं आपका ध्यान दिला रहा हूँ तो मैं कहूँ कि ये बात में लेखक के नाते भी नहीं कह रहा हूँ एक पाठक के नाते कह रहा हूँ और इससे अधिक आपके निकट आने का और आपके साथ एक होने का कोई रास्ता मेरे पास नहीं है कि आप सब साहित्य के पाठकों के साथ मैं भी साहित्य का पाठक होकर कहूँ कि हमको आलोक चाहिए और आलोक के सब रास्ते खुले रहने चाहिए।"[6]

आलोचक की दृष्टि में ऐसा क्या हो कि वह कविता को उसकी सापेक्ष स्वतन्त्रता के भीतर रखते हुए अर्थवान शब्द की समस्त संभावनाओं को खोज सके। इसके लिए नामवर सिंह आलोचक में कवि द्वारा सिरजे हुए अनुभूत तक अपनी अनुभूति को ले जाने या संभाव्य कथ्य तक अपनी पहुँच बनाने की बात करते हुए कहते हैं "जो आलोचक कविता में अर्थवान शब्द की समस्त संभावनाओं की खोज किए बिना ही एक सामान्य वक्तव्य या संदेश की आधार पर किसी कविता पर मूल्य–निर्णय देने का दावा करता है, वह कविता का आलोचक नहीं है, न होगा। इस मान्यता के मूल में कविता का अपना अन्तर्ग्रथन संबंधी एक निश्चित मूल्य निहित है, जिसका संबंध कविता की सापेक्ष स्वतंत्रता से है।"[7]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के सम्बन्ध में अनुसन्धान की भूमिका पर जो बात कही थी वह बात केवल अनुसन्धान तक ही सिमित नहीं थी। वहां अनुसन्धान में आलोचना का समावेश स्वतः ही हो गया था। जिसको अलग से कहने की आवश्यकता उन्होंने महसूस नहीं की। उनका मानना था कि "जहाँ तक पुराने हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन और पुनर्निर्माण का प्रश्न है मेरा निश्चित और दृढ विश्वास है कि यह इतिहास केवल संयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता है। बहुत जगह हमें पंक्तियों के बीच में पढ़ना पड़ेगा।"[8]

साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में अनुसन्धान और आलोचना का महत्त्व इसलिए नहीं है कि इससे हमें पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्‌भव की जानकारी प्राप्त होती हैं और न ही हम साहित्य इसलिए पढ़ते हैं कि किसी कवि और लेखक की जानकारी प्राप्त करें। साहित्य वस्तुतः निरंतर प्रवाहमान जीवित मानव समाज की अभिव्यक्ति होता है। साहित्य का केंद्र सिर्फ मनुष्य होता है। साहित्य मनुष्य को मनुष्य होने की सहज और संवेगात्मक अनुभूति का नाम है। इसीलिए साहित्य संसार को बदलने का नारा नहीं देता है वह संसार में हो रहे बदलावों में मनुष्य को खोजने की प्रक्रिया का नाम है। इस बात को हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट करते हुए कहा था कि "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्‌भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतःअनादि काल–प्रवाह में निरंतर प्रवहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार ,कवि और काव्य सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं है मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल–प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रभावित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।"[9]

आलोचना की प्रकृति को समझने के लिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आलोचना उस रूप में कला नहीं है जिस रूप में कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक होते हैं और न ही उस रूप में ज्ञान का साहित्य है जिस रूप में दर्शनशास्त्र ,मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र होते हैं। साहित्यिक आलोचना एक तरह से कला का विज्ञान है। यानी कला को जानने का विज्ञान। आलोचक जब किसी कृति का अध्ययन अनुशीलन करता है तो वह उसमें स्थूल मान्यताओं को ही नहीं देखता है वह उसमें पुरानी परम्परा का फल भी देखता है और नई परम्परा का बीज भी खोजता है। कोई भी कृति अपने काल से महान नहीं बन सकती। उसे अपने समय को अभिव्यक्त भी करना है और उस समय का अतिक्रमण भी करना है। देखने में यह बातें प्रथम दृष्टया विराधाभासी लगती है लेकिन विरोधों को साधना ही तो कला का स्वभाव होता है। आलोचक का यह धर्म है कि वह उस कृति के माध्यम से परम्परा और प्रगति की वस्तुस्थिति को सूक्ष्म दृष्टि से देखें। वह इतना भर ही नहीं देखें कि कृति परम्परा में कहाँ खड़ी है वह यह भी देखें कि परिवर्तन की दृष्टि से कृति कोई नई परम्परा का सर्जन कर रही है या नहीं। मैनेजर पाण्डेय चूँकि आलोचक थे और उन्होंने आलोचक की दृष्टि को साहित्य के इतिहासकार के साथ रखकर देखने का प्रयास किया। उन्होंने जो बात साहित्य के इतिहासकार के लिए कही, वही बात आलोचक पर भी उतनी ही लागु होती है "साहित्य के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष साहित्यिक परम्पराओं के उदय,परिवर्तन और विकास से जुड़ा होता है। साहित्य के विकास के साथ नई परम्पराओं के जन्म और पुरानी परम्पराओं के परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। नई रचनाशीलता के माध्यम से पुरानी परम्परा टूटती ही नहीं, नई परम्परा बनती भी है। परम्परा और प्रगति के आपसी संबंध की पहचान करना साहित्य के इतिहासकार का दायित्व है।"[10]

अनुसन्धान बोध पैदा करता है और आलोचना उस बोध की अनुभूत संरचना। अनुसन्धानकर्ता अपनी वस्तुनिष्ठ अप्रोच से अपने बोध का विस्तार कर सकता है लेकिन आलोचक का रास्ता इतना सरल नहीं है। उसे वस्तुनिष्ठ और विषयनिष्ठ के बीच एक संतुलन बनाना पड़ेगा। जिस ओर वह डिगेगा उसकी आलोचना उतनी ही कमजोर हो जाएगी। आलोचक जब किसी पद्धति को आधार बनाकर कृति का मूल्यांकन करेगा तो कृति की परम्परा तो खोज लेगा लेकिन उसके नयेपन को पकड़ने में चूक कर देगा। यही कारण है कि उसके पास बोध भी हो तो उस बोध की अनुभूति परक संरचना भी होनी चाहिए। अनुभूति परक संरचना का अर्थ यही है कि उसमें कवि की रचना दृष्टि तक पहुँच बनाने की गमनशील चेतना भी होनी चाहिए। गमनशील कहने का अर्थ यह है कि उसकी दृष्टि कवि तक ही नहीं जाए कवि से आगे भी जाए। रास्ता कवि वाला ही हो सकता है लेकिन जहाँ कवि ठहरा है उसके आगे निकले बिना आलोचक का काम नहीं चल सकता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आलोचक कवि की कमियां ढूँढने में ही अपने आलोचनाकर्म की सिद्धि मान बैठे । जब तक वह कविकर्म को परम्परा और परिवर्तन के संतुलन के साथ नहीं देख पायेगा तब तक पाठक ही बना रहेगा आलोचक नहीं। आलोचक को क्या देखना है उसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय काव्य परम्परा में रहस्यवादिता कविता की एक प्रवृत्ति थी लेकिन आधुनिक युग में रहस्यवादिता उस अर्थ में कविता की मुख्य प्रवृत्ति नहीं है । अब इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आधुनिक युग में कविता में रहस्यवादिता नहीं है। आज भी बहुत से कवि रहस्य को कविता की प्रवृत्ति मानकर कविताएं रचते हैं। तो क्या वे कवि नहीं है,अगर है तो आधुनिक युग की कविता में रहस्यवादिता की प्रवृत्ति कहाँ ठहरती है। परिवर्तन हुआ तो किस स्तर पर हुआ। परम्परा कितनी बदली और कितनी नई परम्परा विकसित हुई। आलोचक यही देखता है कि परम्परा और परिवर्तन के बीच कृति कहाँ खड़ी है। इसके लिए वह न परम्परा से मुंह मोड़ सकता है और न ही नई परम्परा की खोज के अपने उत्तरदायित्व से अलग हो सकता। यही आलोचक की गमनशील चेतना है जिसके होने से वह अपनी आलोचना को सार्थकता प्रदान करता है।

आलोचना और आलोचक दृष्टि के संबंध पर बात करें तो आलोचना एक विधा है जिसे साहित्यिक विधा भी कह सकते हैं लेकिन आलोचक दृष्टि उस विधा को विस्तृत करने का माध्यम है। जिसका अपना कोई विधान नहीं है लेकिन आलोचना अपनी अर्थवता इसी माध्यम से पाती है। रेने वेलेक ने आलोचना की धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि "शब्दों का अपना इतिहास होता है जिन्हें व्यक्ति अर्थ देते हैं,जिसे निश्चित और स्थाई नहीं

बनाया जा सकता। उस शब्दावली को जो साहित्यिक आलोचना जैसे लचीले विषय के लिए होती है, महानतम सत्ता या विद्वानों की महान प्रभावशाली भी बरफा नहीं सकती। हम अर्थों को सुलझा सकते हैं, संदर्भों का चित्रण कर सकते हैं, प्रश्नों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं और भिन्नताओं की सिफारिश कर सकते हैं लेकिन भावी के लिए विधान नहीं बना सकते।"[11]

रेने वेलेक ने भावी के लिए विधान नहीं बना सकने की जो बात कही है वही आलोचक दृष्टि का मूल बिंदु है। आलोचक का काम विधान बनाना नहीं है। वह कोई मापदंड निर्धारित नहीं करता है। वह शब्दों के अंधार से गुजरते हुए आलोक की नई किरणें खोजता है। वह उसी भांति गमनशील है जिस तरह सूरज की किरण। निश्चित और स्थाई होने का भाव आलोचक की दृष्टि का हिस्सा नहीं हो सकते। आलोचक जानता है कि जितना भाव भरा है उतना बुद्धि में नहीं आता ,जितना बुद्धि में आता है उतना मन में नहीं आता,जितना मन में आता है उतना कहने में नहीं आता ,जितना कहने में आता है उतना लिखने में नहीं आता । आलोचक दृष्टि को समझने के लिए हम कह सकते हैं कि आलोचक अपने आलोक से कविता की भाषा को पकड़ता है। आलोचक शब्द का अर्थ भर ही नहीं पकड़ता है वह शब्द में निहित कवि की अनुभूति को भी पकड़ता है। सामान्य पाठक तक कवि का शब्द पहुंचता है लेकिन आलोचक भाषा की अन्तर्मुखी प्रकृति का जानकर होने के कारण अनुभूति को भी ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह है कि आलोचक का साहित्य विवेक भाषा की प्रकृति की समझ से जुड़ा है। भाषा की समझ आलोचक के आलोक का मुख्य आधार है। एक अच्छे आलोचक को अच्छा भाषाविद होना चाहिए। यही कारण है कि 'काव्य मीमांसा' ग्रन्थ में राजशेखर सरस्वती को सूक्तियों की कामधेनु कहकर अपने ह्रदय में निवास करवाना चाहते हैं-

या दुग्धापि न दुग्धेव कविदोग्ध्रीभिरन्वहम।

ह्रदि नः सन्निधत्तां सा सक्तिधेनुः सरस्वती।। (काव्य मीमांसा अध्याय तीन)

अर्थात् सूक्तियों की कामधेनु मेरे ह्रदय में निवास करें जो कवि रुपी दूध दुहने वालों के द्वारा नित्य दुही जाने पर भी न दुही गई के समान हैं अर्थात् जो कभी क्षीण नहीं होती ।

अनुसन्धान, आलोचना और आलोचक दृष्टि पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि अनुसन्धान से उपजा बोध आलोचक के आलोक को सृजनात्मक बनाता है। यदि आलोचक के पास सृजनात्मक कोख नहीं है तो उसकी आलोचना बंजर भूमि में बीज गाड़ने के निर्थक प्रयास से भिन्न कुछ नहीं। आलोचक का आलोक इसी में है कि वह कृति को फैंक कर अपनी आलोचना को स्थापित नहीं करें। कृति को हथेली पर रख कर ही भाव समुद्र में विचार के नए मोती खोजे जा सकते हैं। यानी आलोचक को अपने रचनाकार को जगाए बिना आलोचना का आलोक प्राप्त नहीं हो सकता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में कहें तो "आलोचना का उद्देश्य निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या संबंध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है।" शुक्ल जी की बात को थोड़ा विस्तार दें तो आलोचक रचनाकार की कलात्मक संवेदनशीलता और सामाजिक संवेदनशीलता के रचनात्मक संबंध को खोजने का काम करता है और अपने इसी आलोक से वह कृति को पाठक तक पहुँचाता है। आलोचक का काम दृश्यमान और अदृश्यमान के बीच संतुलन को साधना है इस संतुलन से ही वह कृति में अमूल्य रत्न की तलाश कर पायेगा। उसे झूठे पत्थर या शीशे के टुकड़े पर ही संतोष नहीं करना चाहिए।उसे अपना बोध पाठक पर थोपना नहीं चाहिए।अपने आलोक से पाठक की अनुभूति का विस्तार करना चाहिए। यही सच्ची आलोचना है और यही आलोचक का आलोक।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अज्ञेय प्रतिनिधि निबंध, संपादक कृष्णदत्त पालीवाल राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, संस्करण 2011,पृष्ठ 19
2. अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ.सावित्री सिन्हा, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ 10, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली

3. अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ.सावित्री सिन्हा,डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ 09,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली
4. अनुसन्धान और आलोचना, अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ. सावित्री सिन्हा,डॉ. विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ 07
5. शोध–सामग्री, अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ. सावित्री सिन्हा, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ 55
6. आलोचना है आलोचक हैं आलोक चाहिए, अज्ञेय प्रतिनिधि निबंध, संपादक कृष्णदत्त पालीवाल, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत,संस्करण 2011, पृष्ठ 52
7. कविता के नए प्रतिमान, नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नौवां संस्करण 2010, पृष्ठ 41
8. शोध सामग्री, अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ. सावित्री सिन्हा,डॉ. विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ 53
9. शोध सामग्री, अनुसन्धान की प्रक्रिया, संपादक डॉ. सावित्री सिन्हा,डॉ. विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ 55
10. साहित्य और इतिहास दृष्टि मैनेजर पाण्डेय ,वाणी प्रकाशन ,संस्करण 2009,पृष्ठ –119
11. आलोचना की धारणाएं रेने वेलेक, हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़, संस्करण 1990, पृष्ठ–17

❖◆❖